प्रश्नकर्ता : क्या मैं तुरंत इस प्रकाश को पा सकता हूँ? यह वही प्रश्न है जो मैंने शुरूआत में पूछा था, मैंने बस इसे रखा अलग ढंग से था।

कृष्णमूर्ति : आप इसे तुरंत पा सकते हैं जब यह *मैं* न हो। एवं इस *मैं* का अंत होता है जब यह स्वतः देख ले कि इसका अंत होना ज़रूरी है; यह देखना ही समझ का वह प्रकाश है।

–जे. कृष्णमूर्ति

जे. कृष्णमूर्ति परिसंवाद

वर्ष : 12 अंक : 3
मार्च 2018

कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया, वाराणसी की त्रैमासिक हिंदी पत्रिका
सितंबर, दिसंबर, मार्च एवं जून में प्रकाशित

संपादक : चैतन्य नागर

	पृष्ठ संख्या
स्व-अभिव्यक्ति	5
आवेग	8
व्यवस्था	12
व्यक्ति और समुदाय	16
प्रेम और काम	19
'जो है'	25
समग्र अवलोकन	29

वार्षिक शुल्क : रु. 150.00
पांच वर्ष के लिए : रु. 600.00 दस वर्ष के लिए रु. 1000.00

शिक्षाओं को कैसे पढ़ें?

कृष्णमूर्ति की शिक्षाओं को किस तरह से पढ़ा जाए, उनकी वार्ताओं को किस तरह सुना जाए, इसे लेकर लोगों के अलग-अलग मत हैं। ऐसे कई लोग हैं जो मानते हैं कि किसी एक खास अवधि में दी गयी वार्ताओं की समूची शृंखला को पढ़ा जाना चाहिए, या उनके वीडियो की पूरी शृंखला सुनी जानी चाहिए। उन्हें टुकड़ों में सुनना या पढ़ना एक तरह से शिक्षाओं का विखंडन करने के समान है। यह तरीका कृष्णजी की शिक्षाओं को उनकी समग्रता में सुनने, पढ़ने और समझने से रोकता है। इससे उलट कुछ लोग खास विषयों पर ही उनकी अंतर्दृष्टियों से परिचित होना चाहते हैं। उनके जीवन में कुछ खास किस्म की समस्याएँ हो सकती है और वे सिर्फ इन्ही विषयों से जुड़ी उनकी वार्ताएं या उनके अंशों को समझना चाहते हैं। इन दोनों मतों को वस्तुनिष्ठ ढंग से परखा जाए तो यही समझ में आता है कि आखिरकार यह हर पाठक या श्रोता का अपना ही निर्णय होगा, पर शिक्षाओं को उनकी समग्रता में पढ़ने और समझने के महत्त्व को भी नहीं नकारा जा सकता।

परिसंवाद के इस अंक में स्व-अभिव्यक्ति, आवेग, व्यवस्था, व्यक्ति और समुदाय, समग्र अवलोकन, जैसे विषयों पर उठाये गए प्रश्नों का उत्तर कृष्णजी ने दिया है। जैसा कि कृष्णजी ने बार-बार अपनी वार्ताओं और लेखन के जरिये स्मरण दिलाया है, शिक्षाओं का महत्त्व सही उत्तर ढूँढने में नहीं बल्कि सही प्रश्न उठाने में है। कृष्णजी हमें सही प्रश्न तक पहुँचने में मदद करते हैं—अक्सर वह किसी प्रश्नकर्ता का प्रश्न उसकी तरफ ही वापस उछाल देते हैं। गहरे सत्य की ओर इशारा करने का यह उनका विशिष्ट ढंग है। प्रश्न का उत्तर देकर वह किसी तरह की मनोवैज्ञानिक निर्भरता निर्मित नहीं करना चाहते—संभवतः वह प्रश्नकर्ता के भीतर छिपी प्रज्ञा को ही कहीं उद्दीप्त करना चाहते हैं। सत्य के पथविहीन होने और गुरु-शिष्य परंपरा के बारे में उनके गहरे प्रश्नों को इसी आलोक में देखा जाना चाहिए।

इस अंक में प्रकाशित प्रश्न सारगर्भित हैं और प्रश्नकर्ताओं के गहरे अन्वेषण का परिणाम हैं। उनके उत्तर भी कृष्णजी की गहन अंतर्दृष्टियों को दर्शाते हैं।

— चैतन्य

स्व-अभिव्यक्ति

प्रश्नकर्ता : अभिव्यक्ति मुझे बहुत महत्त्वपूर्ण जान पड़ती है। एक कलाकार के तौर पर मुझे स्वयं को अभिव्यक्त करना ही होता है अन्यथा मैं घुटन महसूस करने लगता हूँ, गहरे में कुंठित हो जाता हूँ। अभिव्यक्ति तो हमारे वजूद का हिस्सा है। एक कलाकार के रूप में मेरा इसमें पूरी तरह से अवगाहन उसी प्रकार स्वाभाविक है जैसा कि पुरुष का स्त्री के प्रति शब्दों और भाव-भंगिमाओं से प्रेम अभिव्यक्त करना। लेकिन इस सारी अभिव्यक्ति में एक तरह की पीड़ा है जिसे मैं कुछ समझ नहीं पाता। मेरे विचार से ज़्यादातर कलाकार मुझसे सहमत होंगे कि कैनवस पर,या किसी अन्य माध्यम से अपने गहनतम भावों को अभिव्यक्त करने में एक बड़ा ही गहरा द्वन्द्व है। मैं सोच रहा था कि क्या कोई कभी इस पीड़ा से मुक्त हो सकता है, या फिर अभिव्यक्ति हमेशा ही पीड़ा लाती है?

कृष्णमूर्ति : अभिव्यक्ति की ज़रूरत ही क्या है, और इसमें दुःख-वेदना कहाँ आ जाया करती है? क्या ऐसा नहीं है कि व्यक्ति और-और अधिक गहराई

से, प्रचुरता से, पूरी तरह से अभिव्यक्त करने का जतन करता रहता है; और जो उसने अभिव्यक्त किया है, उससे क्या वह कभी-भी संतुष्ट हो पाता है? गहन भाव और इसकी अभिव्यक्ति दोनों एक ही शै नहीं हैं; इन दोनों के बीच एक बड़ा अंतर है, और जब वह अभिव्यक्ति उस प्रगाढ़ भाव से मेल नहीं खाती तो हमेशा कुंठा हुआ करती है। जो बोल वह कलाकार अपनी भावना को देता है, उनमें जो कमी उसे खटकती है उसको लेकर यह असंतोष ही संभवतः पीड़ा के कारणों में से एक है। इसी में द्वन्द्व है, और वह द्वन्द्व ऊर्जा की बरबादी है। किसी कलाकार में एक प्रगाढ़ भाव होता है जो काफी प्रामाणिक होता है; इसे वह कैनवस पर अभिव्यक्त करता है। यह अभिव्यक्ति कुछ लोगों को रिझाती है और वे उसकी कलाकृति को खरीद लेते हैं; उसे धन व प्रतिष्ठा मिलती है। उसकी अभिव्यक्ति पर लोगों का ध्यान गया है और वह प्रचलन में आ जाती है। वह इसे परिष्कृत करता है; इस पर काम करता है, इसे बेहतर बनाता है और इस प्रकार वह सारा समय अपनी ही नकल कर रहा होता है। यह अभिव्यक्ति अभ्यासजनित बन जाती है और एक शैली इख्तियार कर लेती है; एवं अभिव्यक्ति अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण बनती जाती है और अन्ततः उस भाव से भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है; वह भाव आखिर में वाष्पीभूत हो जाता है। उस कलाकार के पास अब एक सफल चित्रकार होने के सामाजिक परिणाम भर बचते हैंः कलादीर्घा और प्रदर्शनी का बाज़ार, पारखी जन, समीक्षक लोग; वह उस समाज द्वारा गुलाम बना लिया जाता है जिसकी खातिर वह चित्र बना रहा होता है। वह भाव, वह अहसास तो कभी का लुप्त हो चुका है, वह अभिव्यक्ति अब एक रीता खोल रह गयी है। फलतः यह अभिव्यक्ति भी अंत में अपना आकर्षण खो बैठती है क्योंकि अब इसमें अभिव्यक्त करने के लिए कुछ रहा ही नहीं; यह बस एक भाव-भंगिमा, एक शब्द है, बिना किसी अर्थ के। यह समाज की इस विनाशक प्रक्रिया का हिस्सा है। यह उस शुभ का विनाश है।

प्रश्नकर्ता : क्या ऐसा नहीं हो सकता कि वह भाव बना रहे, अभिव्यक्ति में खोए बगैर?

कृष्णमूर्ति : जब अभिव्यक्ति ही सर्वथा महत्त्वपूर्ण बन जाती है क्योंकि यह सुखप्रद, तुष्टिदायक और फायदेमंद है, तब अभिव्यक्ति और भाव के बीच एक दरार आ जाती है। जब वह भाव ही अभिव्यक्ति है तब द्वन्द्व नहीं उठता, और इसमें कोई अंतर्विरोध नहीं है, अतएव कोई द्वन्द्व नहीं है। पर जब लाभ और विचार बीच में आते हैं, तब यह भाव लोभ के चलते लुप्त हो जाता है। भाव का आवेग अभिव्यक्ति के आवेग से पूर्णतः भिन्न होता है और अधिकांश लोग अभिव्यक्ति के आवेग में जकड़े हुए हैं। तो उस शुभ तथा उस सुखप्रद के मध्य सर्वदा यह विभाजन बना है।

प्रश्नकर्ता : क्या मैं लोभ की इस लहर में उलझे बगैर जी सकता हूँ?

कृष्णमूर्ति : यदि महत्त्वपूर्ण वह भाव है तो आप अभिव्यक्ति के विषय में कभी प्रश्न नहीं उठाएँगे। या तो आपमें वह भाव है, या फिर नहीं है। यदि आप अभिव्यक्ति के बारे में पूछ रहे हैं तो आपका प्रश्न कृतित्व के, कलाकारी के बारे में नहीं, लाभ के बारे में है। कलाकारी वह है जो लेखे-जोखे में नहीं पड़ा करती : वो तो जीती-जागती है।

प्रश्नकर्ता : तो जीना, यह है क्या? क्या है यह होना, और उस भाव की मौजूदगी जो अपने आप में परिपूर्ण है? यह बात अब मुझे समझ आ गयी है कि अभिव्यक्ति यहाँ प्रासंगिक नहीं।

कृष्णमूर्ति : यह है : बिना किसी द्वन्द्व के जीना।

आवेग

प्रश्नकर्ता : आवेग, 'पैशन' क्या है। आपने इसके बारे में चर्चा की है और स्पष्टतया आप इसे एक विशिष्ट अर्थ देते हैं। मुझे नहीं लगता कि मैं उस अर्थ से परिचित हूँ। प्रत्येक मनुष्य की भाँति मुझमें कामुकता का आवेग तथा तेज़ी से गाड़ी चलाने या खूबसूरत बगीचा लगाने सरीखे ऊपरी कामों के लिए आवेग तो है। हममें से अधिकतर लोग आवेगयुक्त गतिविधि के किसी-न-किसी रूप में लिप्त रहा ही करते हैं। आप किसी शख्स से उसके खास जुनून की बात करें और आपको उसकी आँखों में एक चमक नज़र आएगी। हमें मालूम है कि अँगरेज़ी का यह 'पैशन' शब्द दुःख-वेदना के लिए प्रयुक्त ग्रीक शब्द से व्युत्पन्न है, पर जब आप इस शब्द का प्रयोग करते हैं तो मुझे जिस भाव की अनुभूति होती है वह वेदना का नहीं बल्कि किसी प्रेरक बल का है जैसा कि उस हवा में होता है जो पच्छिम से गरजती-बहती आती है, अपने आगे के बादलों और कूड़े-करकट को खदेड़ते-उड़ाते। मैं स्वयं में उसी आवेग को चाहूँगा। यह मिलता कैसे है? इसका

आवेग किसके प्रति है? आपके अर्थों में आवेग क्या होता है?

कृष्णमूर्ति : मेरे विचार से हमें इस विषय में स्पष्ट रहना चाहिए कि वासना और आवेग दो अलग-अलग शै हैं। वासना को विचार द्वारा कायम रखा जाता है, यह विचार द्वारा ही संचालित होती है, विचार में ही बढ़ती और उसी से सत्त्व ग्रहण करती रहती है जब तक कि इसका विस्फोट न हो जाए— कामुकता में, या, अगर यह ताकत की वासना है तो परितृप्ति के अपने ही हिंसक रूपों में। आवेग तो कुछ बिल्कुल ही अलग बात है; यह विचार की उपज नहीं है और न ही अतीत की किसी घटना का स्मरण; यह परितृप्ति के किसी भी प्रयोजन द्वारा संचालित नहीं है; और यह दुःख भी नहीं है।

प्रश्नकर्ता : क्या कामुकता का समस्त आवेग वासना ही है? कामुक प्रतिक्रिया हमेशा तो विचार का परिणाम नहीं हुआ करती; यह संपर्क भी हो सकता है, जैसे कि आप अचानक किसी से मिलते हैं और उसकी रमणीयता आप पर छा जाती है।

कृष्णमूर्ति : जहाँ कहीं भी विचार सुख की छवि निर्मित करने लगे, तो यह अपरिहार्य रूप से वासना ही है, न कि आवेग का वह स्वातंत्र्य। यदि प्रेरक-बल मुख्यतः सुख ही है तो यह वासना है। जब कामुक मनोभाव सुख की उत्पत्ति है तो यह वासना है। यदि यह प्रेम से जन्मा है तो यह वासना नहीं है, यद्यपि तब इसमें असाधारण उल्लास विद्यमान हो सकता है। यहाँ हमें स्पष्ट होना होगा और खुद से ही यह पता लगाना होगा कि क्या प्रेम में सुख और आनंद का शुमार नहीं होता। जब आप किसी बादल को देखते हैं और इसकी विशालता और इसमें छनते प्रकाश से आह्लादित होते हैं, तो सुख तो इसमें यकीनन है, किन्तु सुख से कहीं अधिक कुछ और भी है। हम इसकी निंदा कतई नहीं कर रहे। अगर आप विचार में, या वास्तव में, उस बादल तक लौट-लौट आते हैं, उत्तेजना के लिए, तब तो आप मनोतरंग की किसी काल्पनिक उड़ान में लगे हुए हैं, और

ज़ाहिर है कि यहाँ सुख और विचार ही वे प्रलोभन हैं जो काम कर रहे हैं। जब पहले उस बादल पर आपकी नज़र पड़ी थी और आपने उसके सौंदर्य को देखा था, तो सुख का कोई प्रलोभन वहाँ काम नहीं कर रहा था। यौन में, सेक्स में जो सौंदर्य है, वह इस *मैं* की, इस अहंकार, 'ईगो' की अनुपस्थिति ही है, परंतु सेक्स का विचार तो इस अहंकार की पुष्टि ही है, और वही सुख है। यह अहंकार हर समय या तो सुख की तलाश में रहता है या पीड़ा से बचा करता है, तुष्ट-तृप्त होना चाहता है और इस कारण कुंठा को आमंत्रित कर लेता है। इन सब में आवेग का वह अहसास विचार द्वारा कायम रखा जाता है और विचार के ज़रिये ही उसका पीछा किया जाता है, अतएव तब यह आवेग नहीं रह जाता, बल्कि सुख मात्र होता है। याद रखे गये आवेग की आस, तथा उसके पीछे दौड़ना ही सुख है।

प्रश्नकर्ता : तब, आवेग अपने आप में क्या है ?

कृष्णमूर्ति : इसका सरोकार तो आनन्द और उल्लास से है, जो कि सुख नहीं है। सुख में हमेशा प्रयास का एक सूक्ष्म रूप रहा करता है—देखना, यत्न करना, माँग करना, इसे बनाए रखने के लिए, हासिल करने के लिए संघर्ष करना। आवेग में कोई माँग नहीं होती, अतएव कोई संघर्ष भी नहीं होता। आवेग में तुष्टि-पूर्ति का हल्के से हल्का साया तक नहीं होता, इसी कारण इसमें न तो कोई कुंठा संभव है और न ही पीड़ा। आवेग, 'पैशन' इस *मैं* से—जो समस्त तुष्टि-पूर्ति और पीड़ा का केंद्र है—मुक्ति है। आवेग की कोई माँग नहीं होती, क्योंकि यह तो बस मौजूद है, मैं यहाँ किसी ऐसी शै की बात नहीं कर रहा जो स्थैतिक, गतिहीन है। आवेग स्व-निषेध का संयम-तप है जिसमें कोई *आप* और कोई *मैं* है ही नहीं; अतः आवेग जीवन का सार ही है। यही है जो गतिमान् है और जीता-जागता है। पर जब विचार कुछ पा लेने और उसे पकड़े रखने की तमाम समस्याएं ले आता है, तब आवेग रह नहीं जाता। और आवेग के बिना सृजन संभव ही नहीं।

प्रश्नकर्ता : सृजन से आपका क्या अभिप्राय है?

कृष्णमूर्ति : मुक्ति।

प्रश्नकर्ता : कैसी मुक्ति?

कृष्णमूर्ति : मुक्ति इस *मैं* से जो वातावरण पर निर्भर रहता है और वातावरण की ही उपज है—यह *मैं* जिसे समाज और विचार ने रचा-गढ़ा है। यह मुक्ति ही स्पष्टता है, वह प्रकाश जिसे अतीत ने रौशन नहीं कर रखा है। आवेग तो केवल यह वर्तमान है।

प्रश्नकर्ता : इसने तो मुझे एक नये विस्मयकारी भाव से उद्दीप्त कर दिया है।

कृष्णमूर्ति : यही सीखने का आवेग है।

प्रश्नकर्ता : मेरे दैनिक जीवन में कौन-सा कर्म विशेष यह सुनिश्चित करेगा कि यह आवेग प्रज्वलित है एवं कार्य कर रहा है?

कृष्णमूर्ति : कुछ भी इसे सुनिश्चित नहीं कर सकता, सिवाय सीखने के इस अवधान के, जो कि कर्म है, जो कि *अब* है। इसीमें आवेग का वह सौंदर्य है, जो इस *मैं* और इसके समय का कुल-जमा परित्याग है।

व्यवस्था

प्रश्नकर्ता : आपकी शिक्षा में तो हज़ार तफसीलें हैं। अपना जीवन जीने के बीच इन सब को किसी एक कृत्य में समाहित करने में मुझे सक्षम होना होगा, इसी वक्त, ताकि जो भी मैं करूँ उस सब में वह व्याप्त हो, क्योंकि अपने जीने के दौरान ठीक सामने एक ही क्षण हुआ करता है जिसमें कर्म किया जाना है। दैनिक जीवन में वह कौन-सा एक कर्म है जो आपकी शिक्षा की तमाम तफसीलों को किसी एक बिंदु के अंतर्गत समेट लेगा, जैसे कि किसी पिरामिड को उलटा रख देने पर वह एक बिंदु पर टिका होता है?

कृष्णमूर्ति : ...खतरनाक ढंग से।

प्रश्नकर्ता : या फिर बात को अलग ढंग से रखें तो, वह कौन-सा एक कर्म है जो जीवन जीने की कुल प्रज्ञा को वर्तमान में, इसी लमहे में केंद्र में ले आए?

कृष्णमूर्ति : मेरे विचार से पूछने वाला प्रश्न यह है कि हम एक वस्तुतः प्रज्ञाशील, संतुलित, सक्रिय जीवन कैसे जिएँ, जिसमें अन्य मनुष्य प्राणियों के

साथ समरसतापूर्ण संबंध हों, जिसमें भ्रम-उलझन, समायोजन बैठाने की कवायद और व्यथा-क्लेश की जगह न हो? क्या है वह एक कर्म जो इस प्रज्ञा को आहूत करे कि जो भी आप कर रहे हों, उसमें यह प्रज्ञा क्रियाशील हो? इस संसार में इस कदर व्यथा-क्लेश, गरीबी और दुःख है। एक मनुष्य के नाते, इन सब मानवीय समस्याओं से सामना होने पर आपको करना क्या होगा? अगर आप इस मौके का इस्तेमाल अपनी तुष्टि-तृप्ति के प्रयोजन हेतु दूसरों की सहायता करने के लिए करते हैं, उसमें तो शोषण और अनिष्ट ही है। सो उसे हम शुरू में ही अलग हटा सकते हैं। प्रश्न वस्तुतः यह है कि किस तरह हम एक अत्यन्त प्रज्ञाशील, व्यवस्थित जीवन जिएँ, किसी भी किस्म के प्रयास के बगैर? ऐसा जान पड़ता है कि हम इस समस्या से हमेशा बाहरी तौर पर पेश आते हैं, अपने आप से यह पूछा करते हैं कि ''मनुष्य-जाति की इन कई सारी-आर्थिक, सामाजिक, इन्सानी-समस्याओं से सामना होने पर मुझे करना क्या होगा?'' हम इसका हल इस बाहरी सूरत में ही निकालना चाहते हैं।

प्रश्नकर्ता : मैं आपसे यह नहीं पूछ रहा कि मैं इस संसार की समस्याओं से—आर्थिक, सामाजिक या राजनीतिक-कैसे पेश आऊँ या उन्हें कैसे सुलझाऊँ। वह तो कतई बेतुकापन होगा! मैं तो बस यह जानना चाहता हूँ कि इस संसार में, जैसा कि यह वास्तव में है, सम्यक् रूप से मुझे किस तरह से जीना होगा, क्योंकि यह संसार तो जैसा है अब वैसा ही है, ठीक यहाँ मेरे समक्ष, और मैं इसे किसी भिन्न दशा में तो संकल्पित नहीं कर सकता। अब मुझे तो इसी संसार में जीना है जैसा भी यह हो, और इन्हीं परिस्थितियों में जीवन की समस्याओं का समाधान करना है। मैं यह पूछ रहा हूँ कि इस जीने को कैसे एक धर्म का जीवन बनाएँ, जो कि ऐसा सदाचार है जो बाहर से आरोपित नहीं है, जो किसी शास्त्राज्ञा का अनुसरण नहीं है, और न ही किसी विचार द्वारा संवर्धित-विकसित है?

कृष्णमूर्ति : क्या आपका आशय है कि आप स्वयं को तुरंत,

अचानक, एक अनुग्रह की स्थिति में पाना चाहते हैं, जो अगाध प्रज्ञा है, निर्दोषिता है, प्रेम है—एक ऐसी अवस्था में जो किसी भी अतीत अथवा भविष्य से रहित है, और इसी अवस्था से कर्म करना चाहते हैं?

प्रश्नकर्ता : जी हाँ! बिल्कुल यही।

कृष्णमूर्ति : इसका उपलब्धि से, सफलता या विफलता से कुछ लेना-देना नहीं है। निश्चित ही, जीने का कोई एक इकलौता ढंग तो ज़रूर होगा : क्या है वह?

प्रश्नकर्ता : यही मेरा प्रश्न है।

कृष्णमूर्ति : आपके भीतर उस प्रकाश की उपस्थिति जिसकी न कोई शुरूआत है और न ही कोई अंत, जो आपकी आकांक्षा से ज्योतित नहीं है, जो न तो आपका है, न ही किसी और का। जब यह आंतरिक प्रकाश विद्यमान हो, तब आप जो भी करेंगे वह सम्यक् और सत्य होगा।

प्रश्नकर्ता : वह प्रकाश कैसे कोई पाता है, अभी, उस तमाम संघर्ष, उस तलाश, उस तमन्ना, उस जिरह के बगैर?

कृष्णमूर्ति : यह केवल तभी संभव है जब आप वस्तुतः उस अतीत के प्रति पूर्णतया मृत हो जाते हैं, और ऐसा तभी किया जा सकता है जब इस मस्तिष्क में पूर्ण व्यवस्था हो। यह मस्तिष्क अव्यवस्था नहीं झेल सकता। यदि अव्यवस्था है तो मस्तिष्क की सारी गतिविधियाँ अंतर्विरोधी, दिग्भ्रमित व शोचनीय होंगी, यह अपने आप का तथा अपने आस-पास का अनिष्ट ही करेगा, बुरा ही करेगा। व्यवस्था विचार का खाका नहीं है, वह किसी सिद्धांत, किसी सत्ता-प्रामाण्य या किसी कल्पित अच्छाई के आज्ञापालन का खाका नहीं है। इस मस्तिष्क में जो अव्यवस्था है वही द्वन्द्व पैदा करती है; तब इस अव्यवस्था से पलायन की खातिर विचार द्वारा पोषित तमाम किस्म के प्रतिरोध उग आते हैं—धार्मिक, या फिर उसके अलावा।

प्रश्नकर्ता : जो मस्तिष्क अपने आप में ही अव्यवस्थित है,

अंतर्विरोधी है, उसमें व्यवस्था कैसे लायी जा सकती है?

कृष्णमूर्ति : ऐसा दिन भर की सतर्कता, 'वॉचफुलनेस' द्वारा, और फिर, सोने से पहले, जो कुछ भी दिन के दौरान किया गया है, उसे व्यवस्थित करके किया जा सकता है। इस तरह से, यह मस्तिष्क नींद में अव्यवस्था की हालत में प्रवेश नहीं करता। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि मस्तिष्क स्वयं को व्यवस्था की किसी दशा में सम्मोहित कर लेता है जब कि वस्तुतः इसमें और इसके आसपास अव्यवस्था ही रहा करती है। दिन के दौरान व्यवस्था का होना ज़रूरी है, और सोने से पहले इस व्यवस्था का सार-निरीक्षण ही उस दिन का समरसतापूर्ण अंत है। यह उस शख्स की मानिंद है जो लेखा-जोखा रखता है तथा हरेक शाम उचित ढंग से जमानामे बराबर कर लेता है ताकि अगले दिन वह नयी-ताज़ी शुरूआत कर सके, ताकि जब वह सोने जाए तो उसका मन खामोश हो, रिक्त हो, न कि चिंतित, दिग्भ्रमित, उद्विग्न अथवा भयभीत। जब वह सुबह जागता है तो इस प्रकाश की मौजूदगी होती है जो विचार की अथवा सुख की उपज नहीं है। यह प्रकाश ही प्रज्ञा एवं प्रेम है। यह उस नैतिकता की अव्यवस्था का निषेध है जिसमें हम लोग पले-बढ़े हैं।

प्रश्नकर्ता : क्या मैं तुरंत इस प्रकाश को पा सकता हूँ? यह वही प्रश्न है जो मैंने शुरूआत में पूछा था, मैंने बस इसे रखा अलग ढंग से था।

कृष्णमूर्ति : आप इसे तुरंत पा सकते हैं जब यह *मैं* न हो। एवं इस *मैं* का अंत होता है जब यह स्वतः देख ले कि इसका अंत होना ज़रूरी है; यह देखना ही समझ का वह प्रकाश है।

व्यक्ति और समुदाय

प्रश्नकर्ता : मुझे ठीक-ठीक पता नहीं है कि यह प्रश्न कैसे पूछा जाना चाहिए, पर मुझे इसका तीव्र अहसास है कि व्यक्ति और समुदाय, इन दो विरोधी सत्ताओं के बीच का संबंध अशुभता का, बदी का एक लंबा इतिहास रहा है। संसार का इतिहास, विचार का एवं सभ्यता का इतिहास आखिरकार इन्हीं दो विरोधी सत्ताओं के संबंधों का ही तो इतिहास है। प्रत्येक समाज में व्यक्ति कमोबेश दबाव में रहता है; और सिद्धांतकारों ने जो साँचे तय कर रखे हैं उन्हीं के अनुरूप उसे बरतना, उन्ही ंमें खुद को बैठाना होता है। व्यक्ति इन प्रतिमानों को तोड़ डालने का हमेशा जतन करता रहता है, और नतीजा है उन दोनों के बीच एक सतत संग्राम। धर्म व्यष्टि आत्मा की इस रूप में बात करते हैं कि वह समष्टि आत्मा से भिन्न कोई इकाई है। उनका ज़ोर व्यक्ति पर रहता है। आधुनिक समाज में—जो इस कदर यांत्रिक, मानकीकृत और समूह के तौर पर बरतने वाला बन गया है—व्यक्ति अपनी पहचान जानने की कोशिश में लगा है, खोजबीन कर रहा

है कि वह है क्या, और अपने होने का दृढ़ता से दावा कर रहा है। यह सारा संघर्ष हमें कहीं नहीं ले जा रहा। मेरा प्रश्न है, इस सब में गड़बड़ी क्या है?

कृष्णमूर्ति : महत्त्व की बात सिर्फ यह है कि जीवन जीने में जो कर्म घटित हो रहा है, वह अच्छाई का, प्रेम का एवं प्रज्ञा का कर्म हो। क्या अच्छाई व्यष्टिगत होती है अथवा समष्टिगत, क्या प्रेम वैयक्तिक होता है या निर्वैयक्तिक, क्या प्रज्ञा आपकी, मेरी, या किसी और की हुआ करती है? यदि यह आपकी या मेरी है, तो यह प्रज्ञा, प्रेम अथवा अच्छाई नहीं है। यदि अच्छाई—किसी की अपनी तरजीह या निर्णय के हिसाब से—व्यक्ति विशेष अथवा सामूहिकता का मामला है, तब यह अच्छाई नहीं रही। अच्छाई न तो किसी व्यक्ति के घर के पिछवाड़े में है और न ही सामूहिकता के खुले मैदान में; उन दोनों से आज़ादी में ही अच्छाई फलती-फूलती है। जब यह अच्छाई, प्रेम और प्रज्ञा विद्यमान होते हैं, तब कर्म व्यक्ति या समूह की सीमाओं में परिभाषित नहीं होता। अच्छाई के अभाव के चलते, हम संसार को व्यष्टि और समष्टि में विभाजित कर देते हैं; फिर धर्म, राष्ट्रीयता और वर्ग के अनुसार इस समष्टि को अनगिनत समूहों में बाँट दिया करते हैं। ये विभाजन रच लेने के पश्चात, हम इनके बीच सेतु बाँधने का प्रयास करते हैं नये समूहों की रचना करके, जो कि पुनः शेष समूहों से विभाजित हो जाते हैं। हम देखते हैं कि हर महान धर्म कथित रूप से मनुष्य में भाईचारा लाने की खातिर ही अस्तित्व में है, जब कि असल तथ्य ये है कि यही भाईचारा होने नहीं देता। हम सदैव उसी में सुधार लाने की कोशिश करते हैं जो पहले से ही विकृत है, भ्रष्ट है। हम विकृति का आधारभूत रूप से उन्मूलन नहीं करते, बस इसी को फिर से सजा-सँवार लिया करते हैं।

प्रश्नकर्ता : क्या आप यह कह रहे हैं कि हमें व्यष्टि और समष्टि के इस अंतहीन मोल-तौल में अथवा इन दोनों की भिन्नता या समानता को सिद्ध करने में समय व्यर्थ नहीं करना चाहिए?

क्या आप कह रहे हैं मुद्दा सिर्फ अच्छाई, प्रेम और प्रज्ञा ही हैं और इनका अवस्थान व्यक्ति या समूह से परे है?

कृष्णमूर्ति : जी हाँ।

प्रश्नकर्ता : तो वास्तविक प्रश्न यही प्रतीत होता है कि रोज़मर्रा के जीवन में प्रेम, अच्छाई और प्रज्ञा किस प्रकार कार्य कर सकते हैं।

कृष्णमूर्ति : यदि ये कार्य कर रहे हैं, तब व्यष्टि और समष्टि का प्रश्न अकादमिक भर रह जाता है।

प्रश्नकर्ता : ये कैसे कार्य करें?

कृष्णमूर्ति : ये सिर्फ संबंध के तहत ही कार्य कर सकते हैं : सारा अस्तित्व ही संबंध में है। तो पहली बात प्रत्येक वस्तु तथा प्रत्येक व्यक्ति से अपने संबंध के प्रति सजग होना तथा यह देखना है कि किस तरह इस संबंध में *मैं* जन्म लेता है और काम करता है। यह *मैं* समूहगत और व्यक्तिगत दोनों है; यह *मैं* ही विभाजित किया करता है; यह *मैं* ही है जो सामूहिक तौर पर या वैयक्तिक तौर पर कर्म करता है, *मैं* जो कि स्वर्ग और नरक की रचना करता है। इस सब के प्रति सजग होना इस *मैं* को समझना है। और इसे समझ लेना इसका अंत है। इसका अंत ही अच्छाई है, प्रेम है, और प्रज्ञा है।

प्रेम और काम

प्रश्नकर्ता : मैं शादीशुदा हूँ, हमारे बाल-बच्चे भी हैं। सुख-मज़े की तलाश में मैंने बड़ी अपव्ययी उम्र गुज़ारी है, हालांकि जीवन काफी सभ्य-शिष्ट रहा है, और आर्थिक दृष्टि से मैंने इसे सफल भी बनाया है। लेकिन अब मैं अधेड़ हो चला हूँ और चिंतित-सा महसूस करने लगा हूँ न सिर्फ अपने परिवार के लिए, बल्कि जिस दिशा में यह संसार जा रहा है उसको लेकर भी। मेरे मन में पाशविकता और हिंसक भावनाओं के लिए जगह नहीं रही है, और सदा मैंने यह माना है कि क्षमाशीलता तथा करुणा जीवन में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इनके बिना तो मनुष्य मनुष्यता से गिर जाता है। आपकी अनुमति हो तो मैं पूछना चाहूंगा कि प्रेम क्या है। क्या वास्तव में ऐसा कुछ है भी? करुणा को इसी का हिस्सा होना चाहिए, पर मुझे हमेशा महसूस होता है कि प्रेम कहीं अधिक विस्तीर्ण है, और अगर हम साथ-साथ इसका अन्वेषण कर सकें तो, तो शायद मैं अपने जीवन को—इससे पहले कि बहुत देर हो जाए—सार्थक बना पाऊं। असल में मैं यही एक बात पूछने आया हूँ—

प्रेम क्या है?

कृष्णमूर्ति : इससे पहले कि हम इसमें जाएं, हमें इस बारे में बहुत स्पष्ट होना चाहिए कि कोई शब्द वह वस्तु नहीं होता, वर्णन कभी भी वह नहीं होता जिसका वर्णन किया जा रहा है, क्योंकि कितनी भी व्याख्या की जाए, और वह चाहे जितनी सूक्ष्म और विचक्षण क्यों न हो, उससे प्रेम की निस्सीमता के लिए हृदय के द्वार नहीं खुलेंगे। यह हम ज़रूर समझ लें, और महज़ शब्दों को न पकड़े रखें : शब्द संवाद के लिए उपयोगी होते हैं, किंतु जब बात किसी ऐसे विषय में हो रही हो जो वस्तुतः अशाब्दिक है, जिसे शब्दों में नहीं कह सकते, तो हमें अपने बीच एक सहसंवाद, 'कम्यून्यन' स्थापित करना होगा ताकि हम दोनों एक ही वक्त में, एक ही चीज़ को महसूस कर पाएं, उसकी सच्चाई समझ पाएं, मन तथा हृदय की संपूर्णता के साथ। नहीं तो हम बस शब्दों से खिलवाड़ करते रहेंगे। कैसे हम इस वस्तुतः अत्यंत सूक्ष्म विषय को लें जिसे मन द्वारा स्पर्श नहीं किया जा सकता? हमें इसमें काफी हिचकिचाहट के साथ आगे बढ़ना होगा। क्या हम पहले यह देखें कि यह क्या नहीं है, और तब संभवतः हम यह देखने में सक्षम हो पाएंगे कि यह क्या है। निषेध के, नकारने के माध्यम से हो सकता है हम उस निश्चयात्मक तक आ पहुँचें, पर केवल किसी निश्चयात्मक की खोज तो हमें अनुमानों और निष्कर्षों की ओर ही ले जाएगी, जो विभाजन को जन्म देते हैं। आपने पूछा है कि प्रेम क्या है। हम कह रहे हैं कि हमारा इस तक आना हो सकता है अगर हम यह जान लें कि यह क्या नहीं है। जो कुछ भी एक विभाजन, एक अलगाव पैदा करता है, प्रेम नहीं है, क्योंकि उसमें द्वन्द्व है, कलह है, और बेरहमी है।

प्रश्नकर्ता : एक विभाजन, एक अलगाव, जो कलह ले आता है—इससे आपका मतलब क्या है?

कृष्णमूर्ति : विचार अपने स्वभाव में ही विभाजक हैं। यह विचार ही है जो सुख की तलाश में रहता है और उसे पकड़े

रखता है। विचार ही इच्छा को पालता-पोसता है।

प्रश्नकर्ता : क्या आप इच्छा की थोड़ी और बात करेंगे?

कृष्णमूर्ति : पहले तो होता है किसी मकान को देखना; फिर यह संवेदन, सनसनी, कि हाँ, प्यारा मकान है; तब इसे अपना बना लेने की और इससे सुख पाने की इच्छा; और तत्पश्चात इसे पा लेने की जद्दोजहद। इस सब से ही वह केंद्र तैयार होता है और यह केंद्र ही विभाजन का कारण है। यह केंद्र ही किसी 'मैं' का वह अहसास है जो कि कारण है विभाजन का, क्योंकि 'मैं' का यह अहसास ही अलगाव का वह अहसास है। लोगों ने इसे 'अहम्', 'ईगो' तथा तमाम तरह के अन्य नामों से अभिहित किया है—'निम्नतर स्व' जो कि 'उच्चतर स्व' की किसी अवधारणा का उलट है—पर इस विषय में इतना जटिल होने की कोई आवश्यकता नहीं है; यह तो एकदम सरल बात है। जहाँ भी यह केंद्र हो, जो कि 'मैं' का यह अहसास है जो अपने क्रियाकलाप में खुद को अलग-थलग करता चलता है, विभाजन व प्रतिरोध भी वहाँ होंगे। और यह सब विचार ही यह प्रक्रिया ही है। अतः जब आप पूछते हैं कि प्रेम क्या है, तो यह इस केंद्र का तो नहीं है। प्रेम सुख अथवा पीड़ा नहीं है, न घृणा है, और न ही किसी भी रूप में हिंसा है।

प्रश्नकर्ता : इसलिए, जिस प्रेम की आप बात कर रहे हैं उसमें सेक्स तो हो नहीं सकता, क्योंकि इच्छा नहीं हो सकती?

कृष्णमूर्ति : मेहरबानी करके आप किसी निष्कर्ष पर न पहुँचें। हम तो तहकीकात, खोजबीन कर रहे हैं। कोई भी निष्कर्ष या पूर्वानुमान आगे के अन्वेषण को संभव नहीं रहने देता । इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमें विचार की ऊर्जा पर भी नज़र डालनी होगी। विचार, जैसा कि हमने कहा, किसी ऐसी चीज़ के बारे में, जो सुखप्रद रही, सोच-सोचकर उस सुख को बनाए रखता है, उस छवि, उस तस्वीर को पालता-पोसता रहता है। विचार सुख को उपजाया करता है। सेक्स की क्रिया के बारे में सोचना तो वासना बन जाता है जो सेक्स की क्रिया से बिल्कुल

अलग बात है। अधिकतर लोगों का सरोकार वासना के इस आवेग से ही होता है। सेक्स से पहले या उसके बाद की ललक वासना है। यह ललक विचार ही है। विचार प्रेम नहीं है।

प्रश्नकर्ता : क्या विचार की इस इच्छा के बगैर भी सेक्स की क्रिया संभव है?

कृष्णमूर्ति : आपको खुद पता लगाना होगा। सेक्स की हमारे जीवन में एक असाधारण रूप से महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है, क्योंकि संभवतः यही वह एकमात्र गहन एवं प्रत्यक्ष, सीधा-सीधा अनुभव है जो हमें उपलब्ध है। बौद्धिक तथा भावनात्मक तौर पर तो हम हाँ में हाँ मिलाते हैं, नकल किया करते हैं, अनुयायी बन जाते हैं, आज्ञा पालते हैं। हमारे सभी संबंधों में पीड़ा और कलह-क्लेश है, सिवाय सेक्स की इस क्रिया के। चूंकि यह क्रिया इतनी अलग और खूबसूरत है, हम इसके आदी बन जाते हैं, और तब यही एक बंधन बन जाता है। वह बंधन है इसके सातत्य की, इसके जारी रहने की मांग जो फिर उसी विभाजनकारी केंद्र का ही कृत्य है। व्यक्ति इस कदर बाड़ों से घिरा है—बौद्धिक तल पर, परिवार में, समुदाय में, सामाजिक नैतिकता के ज़रिये, धर्म के लगाये प्रतिबंधों के द्वारा—आप इतने घिरे रहते हैं कि बस सिर्फ यही संबंध बाकी बचता है, जिसमें स्वतंत्रता और प्रगाढ़ता है। इसीलिए हमने इसको ज़बर्दस्त महत्त्व दिया हुआ है। लेकिन यदि हर तरफ स्वतंत्रता मौजूद होती, तब यह चीज़ ऐसी लालसा, ऐसी समस्या नहीं होती। हम इसे एक समस्या बना लेते हैं क्योंकि हमारा इससे जी ही नहीं भरता, या हमें इसको पा लेने पर अपराध-बोध होता है, या इसे हासिल करने में हम कहीं उन नियमों को तोड़ रहे होते हैं जिन्हें समाज ने निर्धारित कर रखा है। यह पुराना समाज ही है जो नये समाज को स्वच्छंद ठहराता है, क्योंकि इस नये समाज के लिए सेक्स जीवन का ही एक हिस्सा है। मन को नकलपसंदी, अधीनता, अनुरूपता और धार्मिक नुस्खों के बधनों से स्वतंत्र कराने में सेक्स का एक अपना स्थान है, पर

तब यह पूरी तरह हावी होने वाली वृत्ति नहीं होगी। इससे व्यक्ति यह देख सकता है कि स्वतंत्रता प्रेम के लिए आधारभूत है—विद्रोह की स्वतंत्रता नहीं, जो चाहे वह कर लेने की, अथवा अपनी लालसाओं में खुलेआम या गुपचुप लिप्त रहने की स्वतंत्रता नहीं, अपितु ऐसी स्वतंत्रता जो इस केंद्र की पूरी-की-पूरी संरचना एवं प्रकृति की समझ में से उदित होती है। तब स्वतंत्रता ही प्रेम है।

प्रश्नकर्ता : अतः स्वतंत्रता उच्छृंखलता, 'लाइसेंस' नहीं है?

कृष्णमूर्ति : नहीं। उच्छृंखलता तो बंधन है। प्रेम घृणा नहीं है, न ही यह ईर्ष्या है, न यह महत्त्वाकांक्षा है, और यह प्रतिस्पर्द्धा का भाव—असफल रह जाने के अपने डर समेत—भी नहीं है। यह न ईश्वर का प्रेम है, और न मनुष्य का प्रेम—जो फिर से एक विभाजन ही है। प्रेम किसी एक का अथवा अनेकों का भी नहीं है। जब प्रेम है, तो यह वैयक्तिक भी है और अवैयक्तिक भी, यह अपने विषय सहित भी है और किसी विषय के बिना भी है। यह किसी फूल की महक सरीखा है; इसकी खुशबू एक भी आत्मसात् कर सकता है, अनेक भी : जो महत्त्व की बात है, वह है खुशबू, यह नहीं कि यह है किसकी।

प्रश्नकर्ता : इस सब में क्षमा कहाँ आती है?

कृष्णमूर्ति : जब प्रेम है, तब क्षमा वाली कोई बात ही नहीं रह जाती। क्षमा वाली बात तभी आती है जब आपने कड़वाहट इकट्ठी कर रखी हो; क्षमा तो नाराज़गी ही है। जब कोई ज़ख्म ही नहीं है तो उसके उपचार की आवश्यकता ही कहाँ है? यह अनवधान, ध्यान न देना ही है, जिससे कड़वाहट और घृणा का जन्म होता है, और आपको इनका भान होता है और तब आप क्षमा करते हैं। क्षमा विभाजन को बढ़ावा देती है। जब आपको इस बात की चेतना, इस बात का ख्याल होता है कि आप तो क्षमा कर रहे हैं, तो आप खता कर रहे होते हैं। जब आप को इसकी चेतना है कि आप सहिष्णु हैं, तो आप असहिष्णु ही हैं। जब आपको अहसास है कि आप मौन, शांत हैं, उस स्थिति में

मौन है ही नहीं। जब आप सोच-समझकर प्रेम करना शुरू करते हैं, तब आप हिंसक होते हैं। जब तलक एक अवलोकनकर्ता है, द्रष्टा है जो कह रहा है 'मैं हूं', या 'मैं नहीं हूं', प्रेम हो ही नहीं सकता।

प्रश्नकर्ता : प्रेम में भय का क्या स्थान है?

कृष्णमूर्ति : आप ऐसा प्रश्न कैसे पूछ सकते हैं? जहां एक होता है, दूसरा नहीं होता। जब प्रेम है, तो आप चाहे जो कर सकते हैं।

'जो है'

प्रश्नकर्ता : दर्शनशास्त्र, मनोविज्ञान, धर्म और राजनीति, सभी को मैंने खूब पढ़ा है; न्यूनाधिक मात्रा में इन सभी का सरोकार मानवीय सम्बन्धों से रहा है। मैंने आपकी किताबें भी पढ़ी हैं जिन सब में विचार और अवधारणाओं के विषय में चर्चा है, और एक तरह से मैं इस सबसे ऊब चुका हूँ। मैंने शब्दों के सागर में गोते खाये हैं—जहाँ भी जाता हूँ, शब्द ही शब्द मुझे मिलते हैं—इन्हीं शब्दों से प्राप्त कृत्य-कर्म मुझे पेश किये जाते हैं: परामर्श, प्रबोधन, आश्वासन, सिद्धान्त, विश्लेषण, उपचार। हाँ, कोई इन सब को परे हटा सकता है—आपने सचमुच अपने जीवन ऐसा किया भी है; परन्तु उनमें से अधिकतर लोगों के लिए जिन्होंने आपको पढ़ा है, या सुना है, आप जो कह रहे हैं बस शब्द ही हैं। ऐसे भी लोग हो सकते हैं जिनके लिए यह सब शब्दों से कहीं अधिक हो, जिनके लिए यह एकदम हकीकत हो, पर मैं तो जो बाकी हम लोग हैं उनकी बात कर रहा हूँ। मैं चाहूंगा कि उस शब्द से, उस अवधारणा से परे जा सकूं, और सभी चीज़ों से पूर्ण संबंध

में जिऊं। क्योंकि आखिरकार, जीवन यही तो है। आपने कहा है कि व्यक्ति को स्वयं का शिक्षक भी होना है, और विद्यार्थी भी। क्या मैं श्रेष्ठतम सहजता के साथ जी सकता हूँ, किन्हीं सिद्धांतों, विश्वासों और आदर्शों के बिना? क्या मैं स्वतंत्रता से जी सकता हूँ, यह जानते हुए कि मैं इस संसार का गुलाम बना हुआ हूँ? आपदाएं आ पहुँचने से पहले द्वार पर दस्तक तो देती नहीं; इससे पहले कि आपको उनका भान हो, प्रतिदिन के जीवन की चुनौतियां सामने मौजूद होती हैं। यह सब जानते-बूझते, इनमें से कई सारी चीज़ों से मुब्तला रहने, विविध छायाभासों के पीछे दौड़ने के बाद, मैं खुद से पूछ रहा हूँ : कैसे मैं सम्यक् रूप से, और प्रेम, स्पष्टता और निष्प्रयास आनंद के साथ जी सकता हूँ? यह जीने का प्रश्न है, कैसे जीना है यह मैं नहीं पूछ रहा हूँ, 'कैसे' तो असल जीवन को ही नकार देता है। जीवन की उत्कृष्टता का अभ्यास तो जीवन की उत्कृष्टता नहीं है।

कृष्णमूर्ति : यह सब व्यक्त करने के बाद, आप कहां पर हैं? क्या आप वास्तव में आशीष सहित, प्रेम के साथ, जीना चाहते हैं? यदि आप ऐसा चाहते हैं, तो समस्या कहाँ है?

प्रश्नकर्ता : मैं चाहता तो हूँ, पर यह चाहत मुझे कहीं पहुँचा नहीं पाती। वर्षों-वर्षों से मैं इस तरह जीना चाहता रहा हूँ, पर जी नहीं पाया।

कृष्णमूर्ति : तो हालांकि आप उस आदर्श, उस विश्वास, उस हिदायत को नकार रहे हैं, तो भी आप बड़ी सूक्ष्मता से, घुमा-फिरा कर बात वही पूछ रहे हैं जो हर कोई पूछा करता है : यही तो 'जो है' और 'जो होना चाहिए' के बीच का द्वन्द्व है।

प्रश्नकर्ता : 'जो होना चाहिए' के बगैर भी, मैं यह देख पाता हूँ कि यह 'जो है' तो घिनौना है। अपने आप को इसे न देखने के झाँसे में डालना तो और भी खराब बात होगी।

कृष्णमूर्ति : अगर आप 'जो है' को देख रहे होते हैं तब आप इस जगत को, पूरी कायनात को देख रहे होते हैं, और 'जो है'

को नकारना ही द्वन्द्व का उद्‌गम है, मूल है। इस जगत का सौंदर्य 'जो है' में विद्यमान है; एवं बिना किसी प्रयास के, 'जो है' के साथ जीना ही सदाचार है।

प्रश्नकर्ता : इस 'जो है' में भ्रम-भ्रांति, हिंसा, और मानवसुलभ पथभ्रष्टता के हर रूप का भी तो समावेश है। क्या इसी के साथ रहने को आप सदाचार कहते हैं? पर क्या ऐसा करना निष्ठुरता और उन्माद नहीं होगा? सारे आदर्शों को झटक देने भर में ही तो संपूर्णता का वास नहीं है! जीवन स्वयं यह मांग करता है कि मैं इसे सुंदरता के साथ जिऊं, आसमान में उड़ान भरते उस गरुड़ की तरह : जीवन के इस चमत्कार को, संपूर्ण सौंदर्य से कुछ भी अल्प जीना तो स्वीकार्य नहीं हो पाएगा।

कृष्णमूर्ति : तो फिर जिएं वैसे!

प्रश्नकर्ता : वैसे मैं जी नहीं पाता, और न ही जीता हूँ।

कृष्णमूर्ति : अगर आप वैसे नहीं जी पाते, तो फिर भ्रम-भ्रांति में ही जिएं; इसके साथ लड़ें मत। इसके सारे क्लेश को जानते-समझते भी, इसी के साथ जिएं : यही है 'जो है'। और बिना किसी द्वन्द्व के इसके साथ जीना ही हमें इससे मुक्त कर देता है।

प्रश्नकर्ता : क्या आप यह कह रहे हैं कि हमारी एकमात्र खोट आत्म-आलोचक होना है?

कृष्णमूर्ति : बिल्कुल नहीं। आप पर्याप्त रूप से आलोचक हैं ही नहीं। आप अपनी आत्म-आलोचना में बस एक जगह तक ही जा पाते हैं। जो आलोचना कर रही है, उस हस्ती की भी तो आलोचना, जाँच-परख की जानी ज़रूरी है। पर यदि यह जाँच-परख तुलना-आधारित है, पैमाने द्वारा परीक्षा है, तब वह पैमाना कोई आदर्श होता है। अगर कोई भी पैमाना है ही नहीं—दूसरे शब्दों में, अगर वह मन ही वहाँ नहीं है जो लगातार तुलना तथा माप-तौल कर रहा हो—तो आप 'जो है' का अवलोकन कर सकते हैं, और तब, 'जो है', अब वह पहले

सरीखा नहीं होता।

प्रश्नकर्ता : मैं बिना किसी पैमाने के खुद का अवलोकन करता हूँ, और तिस पर भी मैं रहता कुरूप ही हूँ।

कृष्णमूर्ति : समस्त परीक्षण, जाँच-परख का मतलब ही है कि कोई पैमाना मौजूद है। किंतु क्या अवलोकन करना संभव है, ताकि बस अवलोकन, देखना हो रहा हो; एवं और कुछ न हो—कि केवल प्रत्यक्ष बोध, 'पर्सेप्शन' हो, बिना किसी बोध करने वाले के।

प्रश्नकर्ता : आपका तात्पर्य क्या है?

कृष्णमूर्ति : देखना हो रहा है। उस देखने का आकलन उस देखने में दखलंदाज़ी है, उसमें विकृति लाना है : वह देखना है ही नहीं; बल्कि वह तो देखने का मूल्यांकन है—उन दोनों में ज़मीन आसमान का फर्क है। क्या बिना किसी विकृति के, अपने आप का एक प्रत्यक्ष बोध, हुआ करता है, आपका स्वयं का-जैसे कि आप हैं—बस एक मुकम्मल प्रत्यक्ष बोध?

प्रश्नकर्ता : जी हाँ।

कृष्णमूर्ति : क्या उस प्रत्यक्ष बोध में कुरूपता है?

प्रश्नकर्ता : प्रत्यक्ष बोध में तो कोई कुरूपता नहीं, सिर्फ उसमें है जिसका बोध हो रहा है।

कृष्णमूर्ति : जिस तरह से आप देखते, बोध करते हैं, वही आप होते हैं। सम्यकता, नेकी विशुद्ध रूप से देखने में है, जो कि अवधान, 'अटेन्शन' है, माप-जोख तथा अवधारणा की विकृति के बगैर। आप यह पता लगाने आये थे कि सौंदर्यपूर्वक, प्रेम के साथ, जीवन कैसे जिया जाए? बिना किसी विरूपण-विकृति के देखना ही प्रेम है, और इस प्रत्यक्ष बोध का कृत्य ही सदाचार का कृत्य है। प्रत्यक्ष बोध की यह स्पष्टता जीवन जीने में सारा समय काम करेगी। वही है आसमान में उड़ान भरते उस गरुड़ की तरह जीना; वही है सौंदर्य को, एवं प्रेम को जी लेना।

क्रोध को देखते हुए—तब, इस पृथकीकरण में, आप जिस पर भी एकाग्र हो रहे हैं, वह चीज़ मजबूत होती है, उसे पोषण मिलता है। तो यहां हमें सजगता की प्रकृति को समझ लेना होगा। हमें यह समझना होगा कि जब हम 'सजगता' शब्द का प्रयोग कर रहे हैं, तो हम बात किस बारे में कर रहे हैं। अब, या तो आप विशिष्ट वस्तु के प्रति सजग हो सकते हैं या फिर आप समग्र के एक हिस्से के तौर पर उस विशिष्ट के प्रति सजग हो सकते हैं। उस विशिष्ट का अपने आप में बहुत अल्प अर्थ है, पर जब आप उस समग्र को देखते हैं, तब उस विशिष्ट का समग्र के साथ एक संबंध होता है। केवल इसी संबंध में विशिष्ट का एक अपना सम्यक् अर्थ होता है : यह एकमात्र–महत्त्वपूर्ण, सब कुछ नहीं बन जाता, यह अतिरंजित नहीं कर दिया जाता। तो असल प्रश्न यह है : क्या कोई जीवन की सकल प्रक्रिया को देख रहा है या वह बस उस विशिष्ट पर केंद्रित है, और इस प्रकार जीवन के समग्र क्षेत्र से चूक रहा है? जीवन के समग्र क्षेत्र के प्रति सजग होना, उस विशिष्ट को भी देखना है, लेकिन साथ ही, समग्र से उस विशिष्ट के संबंध को समझना भी है। यदि आप क्रोधित हैं और आपका सरोकार उस क्रोध को समाप्त करने से है, तब आप अपना ध्यान क्रोध पर केंद्रित करते हैं, और समग्र आपके ध्यान से चूक जाता है, और वह क्रोध और मजबूत हो जाता है। पर क्रोध और वह समग्र एक दूसरे से जुड़े हैं, अंतर्संबंधित हैं। तो जब आप उस विशिष्ट को समग्र से अलग कर लेते हैं, तो वह विशिष्ट अपनी खुद की समस्याएं खड़ी कर लेता है।

प्रश्नकर्ता : समग्र को देखने से आपका तात्पर्य क्या है? क्या है यह संपूर्णता जिसकी आप बात किया करते हैं, यह व्यापक सजगता, जिसमें वह विशिष्ट एक ब्योरा भर है? क्या यह कोई गूढ़, रहस्यपूर्ण, अनुभव है? अगर ऐसा है तब तो यह पूरा भटकाव ही हुआ। या फिर, शायद आपका कहना यह है कि अस्तित्व का यह समग्र क्षेत्र है, क्रोध जिसका एक अंश है, और इस अंश से ही सरोकार रखना उस व्यापक प्रत्यक्ष बोध को

अवरुद्ध कर लेना है? पर यह व्यापक प्रत्यक्ष बोध है क्या ? मैं तो समग्र को इसकी तमाम तफसीलों के ज़रिये ही देख सकता हूँ। और आपका आशय किस समग्र से है? क्या आप इस मन की समग्रता, अथवा अस्तित्व की समग्रता, या मेरे खुद के पूरेपन, या समग्र जीवन की बात कर रहे हैं? आपका अभिप्राय किस समग्रता से है, और मैं इसे कैसे देख सकता हूँ?

कृष्णमूर्ति : जीवन का समग्र क्षेत्र : यह मन, प्रेम, वह सभी कुछ जो जीवन के अंतर्गत है।

प्रश्नकर्ता : इस सबको तो मैं संभवतः कैसे देख पाऊंगा! मैं यह समझ सकता हूँ कि जो कुछ मैं देख रहा हूँ वह आंशिक है, और मेरी सारी सजगता किसी विशिष्ट के प्रति सजगता ही है, और कि यह उस विशिष्ट को और मजबूत किया करती है।

कृष्णमूर्ति : अच्छा इसे इस तरह से रखते हैं : क्या आप प्रत्यक्ष बोध अपने मन से और हृदय से अलग-अलग करते हैं, या आप देखना, सुनना, महसूस करना, सोचना, सब कुछ एक साथ करते हैं, न कि खंडित, अपूर्ण रूप से ?

प्रश्नकर्ता : मैं नहीं जान पा रहा हूँ कि आपका आशय क्या है।

कृष्णमूर्ति : आप कोई एक शब्द सुनते हैं, आपका मन आपको बताता है कि यह तो तिरस्कार है; आपकी भावनाएं आपको सूचित करती हैं कि आपको यह अच्छा नहीं लगा; आपका मन फिर बीच में आता है, नियंत्रित करने के लिए, या उचित ठहराने के लिए, वगैरह, वगैरह। और एक बार पुनः भावनाएं वहाँ—जिस बिंदु पर मन ने बात निपटा दी थी—हावी हो जाती हैं। इस तरह, एक घटना आपके वजूद के अलग-अलग हिस्सों की प्रतिक्रियाओं का सिलसिला शुरू कर देती है। आपने जो सुना था, उसे तोड़ लिया गया, विखंडित कर दिया गया, और अगर आप इन खंडों में से किसी पर ध्यान केंद्रित कर देते हैं, तो आप सुनने की उस कुल प्रक्रिया से चूक जाते हैं। तो सुनना विखंडित, टुकड़ों में हो सकता है, या फिर इसे आपके पूरे

वजूद के साथ, पूर्णरूपेण किया जा सकता है। तो समग्र के प्रत्यक्ष बोध से हमारा आशय है, आपकी आँखों, आपके कानों, आपके हृदय, आपके मन-मस्तिष्क, इन सब से संयुक्त बोध, इनसे अलग-अलग होने वाला बोध नहीं। आपका संपूर्ण अवधान, पूरी 'अटेन्शन' देना ही समग्र का प्रत्यक्ष बोध है। उस अवधान में किसी विशिष्ट का, जैसे कि क्रोध का अलग ही अभिप्राय होता है, क्योंकि यह कई और मुद्दों से परस्पर जुड़ा होता है।

प्रश्नकर्ता : तो जब आप समग्र को देखने की बात करते हैं, आपका आशय है अपने समूचे वजूद से देखना; यह गुणवत्ता का प्रश्न है, न कि परिमाण का। क्या यह सही होगा?

कृष्णमूर्ति : जी, बिल्कुल सही। पर क्या आप इस तरह संपूर्णता से देख रहे हैं, या आप बस इसे शब्दों में ज़ाहिर कर रहे हैं? तो क्रोध को क्या आप अपने हृदय, मन, कानों तथा आँखों से देखते हैं? या आप क्रोध को शेष बचे 'आप' से असंबंधित, अतएव अधिक महत्त्व का विषय मानकर देख रहे हैं? जब आप समग्र को महत्त्व देते हैं, तो आप विशिष्ट को भूल नहीं जाते।

प्रश्नकर्ता : पर उस विशिष्ट का, अर्थात क्रोध का, फिर होता क्या है?

कृष्णमूर्ति : आप क्रोध के प्रति अपने सारे-के-सारे वजूद से सजग हैं। अगर हाँ, तो फिर क्या क्रोध है? अनवधान, 'इनअटेन्शन' क्रोध है, न कि अवधान, 'अटेन्शन'। आपके अपने पूरे अस्तित्व से अवधान, ध्यान देना ही समग्र को देखना है, और अनवधान, असावधानी है विशिष्ट को देखना । उस समग्र के प्रति, और उस विशिष्ट के प्रति, और उन दोनों के संबंध के प्रति सजग होना—सारा मसला यही है। हम उस विशिष्ट को, जो उसके अलावा है उससे अलग कर देते हैं, विभाजित कर देते हैं, और फिर समाधान की कोशिश करते हैं। और इस तरह द्वन्द्व बढ़ जाता है और बाहर निकलने की कोई सूरत नज़र नहीं आती।

प्रश्नकर्ता : तो जब आप केवल उस विशिष्ट को, जैसे कि क्रोध को, देखने की बात करते हैं, तो उससे क्या आपका तात्पर्य अपने अस्तित्व के सिर्फ एक हिस्से के द्वारा देखने से होता है?

कृष्णमूर्ति : जब आप उस विशिष्ट को अपने अस्तित्व के एक खंड से देखते हैं, तब उस विशिष्ट व उस खण्ड—जो इसको देख रहा है—के बीच का विभाजन बढ़ जाता है। जब कोई विभाजन नहीं है, तो कोई द्वंद्व नहीं है।

प्रश्नकर्ता : क्या आप यह कह रहे हैं कि जब मैं अपने पूरे अस्तित्व से देखता हूँ, तब इस क्रोध के और मेरे बीच कोई विभाजन नहीं होता ?

कृष्णमूर्ति : एकदम सही। क्यों आप सच में यही कर रहे हैं, या आप सिर्फ शब्दों को समझ रहे हैं? असल में क्या हो रहा है? यह आपके प्रश्न से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।

प्रश्नकर्ता : आप मुझसे पूछ रहे हैं कि हो क्या रहा है? मैं तो बस आपको समझने की कोशिश कर रहा हूँ।

कृष्णमूर्ति : क्या आप मुझे समझने की कोशिश कर रहे हैं या, जिस विषय में हम बात कर रहे हैं क्या आप उसकी सच्चाई को देख रहे हैं, जो मुझसे स्वतंत्र है? यदि आप, जिस विषय में हम बात कर रहे हैं, उसकी सच्चाई को वस्तुतः देख रहे होते हैं, तब आप अपने स्वयं के गुरु होते हैं, और स्वयं के शिष्य होते हैं, जो कि स्वयं को समझना है। यह समझ किसी और से नहीं सीखी जा सकती।

इस अंक के सभी अंश–'दि अर्जेंसी ऑफ चेंज' से

अनुवाद : कुमुद रामानन्द बंसल

के. एफ. आई. वार्षिक पब्लिक गैदरिंग 2018

इस वर्ष की कृष्णमूर्ति पब्लिक गैदरिंग राजघाट, वाराणसी में आयोजित की जा रही है जिसका प्रारम्भ 31 अक्टूबर 2018 प्रातः से होगा और समापन सत्र 3 नवम्बर 2018 को दोपहर तक पूरा होगा।

रजिस्ट्रेशन एवं अन्य संबंधित सूचनाओं के लिए कृपया संपर्क करें :–

कृष्णमूर्ति स्टडी सेंटर, राजघाट, वाराणसी–221001

फोन : 0542–2441289, ई–मेल : studycentre@rajghatbesantschool.org

कॉपीराइट सूचना

जे. कृष्णमूर्ति के उद्धरण अंतर्राष्ट्रीय कॉपीराइट नियम के अंतर्गत संरक्षित हैं तथा सर्वाधिकारी की लिखित पूर्वानुमति के बिना किसी भी रूप में पुनः प्रस्तुत नहीं किये जा सकते हैं। सन् 1968 के पूर्व की कृष्णमूर्ति की रचनाओं का कॉपीराइट कृष्णमूर्ति फाउंडेशन ऑफ अमेरिका, ओहाय, कैलिफोर्निया का है। सन् 1968 के बाद की रचनाओं का कॉपीराइट कृष्णमूर्ति फाउंडेशन ट्रस्ट, ब्रॉकवुड पार्क, इंग्लैंड का है।

हिंदी में उपलब्ध जे. कृष्णमूर्ति की कुछ पुस्तकें

- ज्ञात से मुक्ति
- प्रथम और अंतिम मुक्ति
- हिंसा से परे
- जीवन एक अन्वेषण
- अंतिम वार्ताएं
- शिक्षा एवं जीवन का तात्पर्य
- स्कूलों के नाम पत्र
- सुखी वही जो कुछ भी नहीं
- ईश्वर क्या है?
- आपको अपने जीवन में क्या करना है?
- ध्यान
- जीवन और मृत्यु
- ये रिश्ते क्या हैं?
- शिक्षा क्या है?
- सोच क्या है?
- आज़ादी की खोज
- प्रेम क्या है? अकेलापन क्या है?
- सत्य और यथार्थ
- मन क्या है?

- **जे. कृष्णमूर्ति परिसंवाद (हिंदी त्रैमासिक पत्रिका)**
- **स्वयं से संवाद (निःशुल्क हिंदी न्यूज़लैटर)**

विस्तृत जानकारी के लिए संपर्क करें :
कृष्णमूर्ति सेंटर
कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया
राजघाट फोर्ट, वाराणसी 221 001
ईमेल : kcentrevns@gmail.com
फोन : 0542-2441289 www.rajghatbesantschool.org
www.j-krishnamurti.org www.jkrishnamurtionline.org
www.kfionline.org www.jkrishnamurti.org

'कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया' के लिए प्रकाशक, मुद्रक प्रो. पी. कृष्णा द्वारा सत्तनाम प्रिंटिंग प्रेस, एस-1/208 के-1, नयी बस्ती, पांडेयपुर, वाराणसी 221 002 से मुद्रित एवं कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया, राजघाट फोर्ट, वाराणसी 221 001 (उ.प्र.) से प्रकाशित।
संपादक : चैतन्य नागर